RNI : 66866/97

विश्व दीप दिव्य सन्देश

(मासिक शोध पत्रिका)

संरक्षक : सार्वभौम जगतगुरु, महामण्डलेश्वर परमहंस योगीराज श्री स्वामी महेश्वरानन्द जी

वर्ष–24 विक्रम संवत् – 2076 (जनवरी–2020) अंक–1

प्रकाशक

विश्वगुरुदीप आश्रम शोध संस्थान

(जगद्गुरु रामानन्दाचार्य संस्कृत विश्वविद्यालय से सम्बद्ध)

कीर्ति नगर, श्याम नगर, सोढाला, जयपुर

RNI : 66866897

विश्व दीप दिव्य संदेश

(मासिक पत्रिका)

वर्ष – 24 | विक्रम संवत् – २०७६ | अङ्क–1 | जनवरी, 2020

* प्रमुख संरक्षक *

परम महासिद्ध अवतार श्री अलखपुरी जी

परम योगेश्वर स्वामी श्री देवपुरी जी

* प्रेरणास्रोत *

भगवान् श्री दीपनारायण महाप्रभुजी

* संस्थापक *

परमहंस स्वामी श्री माधवानन्द जी

* संरक्षक *

सार्वभौम जगद्गुरु महामण्डलेश्वर परमहंस विश्वगुरु स्वामी श्री महेश्वरानन्द जी

* परामर्शदाता *

पण्डित अनन्त शर्मा

डॉ. नारायणशास्त्री काङ्कर

* प्रधान संपादक *

महामण्डलेश्वर स्वामी ज्ञानेश्वर पुरी

* संपादक *

सोहन लाल गर्ग

डॉ. सुरेन्द्र कुमार शर्मा

* सह–संपादक *

डॉ. रामदेव साहू

डॉ. रघुवीर प्रसाद शर्मा

तिबोर कोकेनी

श्रीमती अन्या वुकादिन

* सहयोग *

श्री धीरेन्द्र स्वामी, नवीन जोशी

प्रकाशक

विश्वगुरुदीप आश्रम शोध संस्थान

(जगद्गुरु रामानन्दाचार्य राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय से सम्बद्ध)

कीर्ति नगर, श्याम नगर, सोडाला, जयपुर

website : vgda.in, Youtube : www.youtube.com/c/vishwagurdeepashram

Email : jaipur@yogaindailylife.org

अनुक्रमणिका

	सम्पादकीय		3
1.	ब्राह्मणग्रन्थ और वेदमन्त्रार्थ	प्रो. दयानन्द भार्गव	5
2.	वैशेषिकसम्मत ज्ञानमीमांसा	महामण्डलेश्वर स्वामी ज्ञानेश्वर पुरी	12
3.	वर्णोत्पत्तिप्रक्रिया	डॉ. सुरेन्द्र कुमार शर्मा	17
4.	कृपणपाल करुणा समुद्र रामानुज सम नहीं बियो	शास्त्री कोसलेन्द्रदास	19
5.	संस्कृत साहित्य के विकास का ऐतिहासिक सन्दर्भ	डॉ. देवेन्द्र कुमार शर्मा	25
6.	प्रकृति चिंतन...	पं.नवीन जोशी	29
7.	प्रायनव्ययोर्मते समासलक्षणम्	संदीपकुमारमीणा	30
8.	वैदिक मन्त्रों से रोगों का उपचार	विनोद	31

टाईप सेटिंग एवं मुद्रण : **आइडियल कम्प्यूटर सेन्टर**,3580 मोतीसिंह भोमियों का रास्ता, जौहरी बाजार, जयपुर ❊ मो. 9829028926

सम्पादकीय

विश्व गुरुदीप आश्रम शोध संस्थान द्वारा प्रकाशित मासिक शोध पत्रिका का चतुर्थ पुष्प आपके कर कमलों में देते हुए अत्यधिक हर्ष का अनुभव हो रहा है। इस मासिक पत्रिका के तीन अंक पूर्व में प्रकाशित हो चुके हैं। भारतीय धर्म संस्कृति के शोध लेखों का यह संग्रह विद्वानों द्वारा सराहा जा रहा है। नियमित विद्वानों द्वारा भेजे जा रहे शोध लेख हमारा मनोबल बढा रहे हैं व पत्रिका के महत्त्व को भी आलोकित कर रहे हैं। पूर्व अंकों में सभी उच्चस्तरीय विद्वानों के लेख प्रकाशित हुए हैं व शोध संस्थान द्वारा किये गये कार्यक्रमों के चित्र सहित विवरण प्रकाशित किया गया है।

प्रकाशन की इसी परम्परा में कुछ नये आयामों को और जोड दिया गया है, जिसमें संस्था, विद्यावाचस्पति समीक्षाचक्रवर्त्ती पं. मधुसूदन ओझा के अप्रकाशित साहित्य को सानुवाद प्रकाशित करने का कार्य भी कर रहा है।

प्रत्येक रविवार को अन्ताराष्ट्रिय वैदिक संस्कृति व्याख्यानमाला की शुरुआत पिछले एक वर्ष से हो रही है। विश्वस्तरीय विद्वानों द्वारा अति महत्वपूर्ण व्याख्यानों का प्रकाशन व प्रसारण भी किया जा रहा है। विभिन्न संगोष्ठी सेमीनार व जन्ममहोत्सवों के आयोजनों के अवसर पर संस्था द्वारा किये गये कार्य प्रकाशन, प्रसारण की सम्पूर्ण सूचनार्थ प्रत्येक माह इस पत्रिका के माध्यम से सुधीजनों तक पहुँचाने का यथासम्भव कार्य हमारे द्वारा किया जा रहा है।

इस अंक में प्रकाशित समस्त लेख प्रबुद्ध विद्वानों का एक संगम है। आशा है सुधीजन इस ज्ञान गंगा का पान पूर्ण मनोयोग के साथ करेंगे।

आप सभी को हार्दिक शुभकामना।

–सम्पादक

नोट– अगले अंक के प्रकाशन हेतु सभी विद्वज्जनों से शोधलेख सादर आमंत्रित किये जाते हैं।

मासिक रिपोर्ट (विश्वगुरुदीप आश्रम शोध संस्थान, जयपुर)

(जनवरी-2020)

कार्यक्रम	शिविर	कार्यशाला	प्रकाशन	व्याख्यान-प्रस्तोता-दिनांक-विषय
	21 दिवसीय ज्योतिष एवं वास्तु प्रशिक्षण शिविर उद्घाटन समारोह – 22.01.2020			प्रो. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा – व्याख्यानमाला – 05.01.2020 – शौनक गीता। पं. अनन्त शर्मा – व्याख्यानमाला – 05.01.2020 – वेद वेदांग। पं. अनन्त शर्मा – व्याख्यानमाला – 12.01.2020 – वेद में शिक्षा प्रथम अंग। प्रो. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा – व्याख्यानमाला – 12.01.2020 – गीता।

ब्राह्मणग्रन्थ और वेदमन्त्रार्थ

प्रो. दयानन्द भार्गव

जिस प्रकार वेदों के काल के सम्बन्ध में मतभेद है उसी प्रकार वेदों की व्याख्या के सम्बन्ध में भी मतभेद है। व्याख्या सम्बन्धी इस मतभेद की चर्चा भी वैदिक साहित्य के विभिन्न इतिहासों में विस्तार से हो चुकी है। प्रस्तुत ग्रन्थ में हम वैदिक साहित्य की वह व्याख्या लेकर चलेंगे जो ब्राह्मणग्रन्थों में दी गई है। ब्राह्मण का अर्थ है ब्रह्म अर्थात् वेद की व्याख्या। ब्राह्मण साहित्य विपुलकाय है और उसमें वेदमन्त्रों की क्रमशः टीका तो नहीं है परन्तु उन वेदमन्त्रों का विनियोग–किस कर्म में होता है–इसकी चर्चा अवश्य है। सहज ही इस चर्चा के अन्तर्गत वेदमन्त्र के अर्थ पर भी विचार करना पड़ता है। यह सत्य है कि इन ब्राह्मणग्रन्थों में मुख्यतः वैदिक यज्ञों का प्रतिपादन है किन्तु उस प्रतिपादन की पृष्ठभूमि में अनिवार्यतः सृष्टिविद्या का वर्णन है। इस सृष्टिविद्या के अन्तर्गत विश्व के उद्भव की चर्चा ही नहीं है अपितु विश्व के स्वरूप का विश्लेषण भी है। यह विश्लेषण पर्याप्त विस्तृत और सूक्ष्म है। इसी विश्लेषण के आधार पर वेदमन्त्रों में स्तुत देवों का भी स्वरूप ठीक से समझा जा सकता है। अधिकतर विद्वानों ने ब्राह्मण-ग्रन्थों को कर्मकाण्ड की पुस्तक ही समझा और उनमें दी गई सृष्टिविद्या, यज्ञविद्या तथा देवविद्या पर ध्यान नहीं दिया। परिणाम यह हुआ कि वेद की सबसे प्राचीन व्याख्या द्वारा प्रतिपादित वैदिक जीवन दृष्टि से हम अपरिचित ही रह गए। प्रस्तुत ग्रन्थ में हम मुख्यतः ब्राह्मण-ग्रन्थों में प्रतिपादित दृष्टि से ही वैदिक साहित्य में उपलब्ध होने वाली उस सामग्री का विवेचन करेंगे जो पूरे भारतीय चिन्तन का मूल स्रोत है और जिसकी प्रासङ्गिकता विज्ञान के विकास के साथ दिनों-दिन बढ़ती जा रही है।

वेदार्थ की सूक्ष्मता–

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाच-
मुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे
जायेव पत्ये उशती सुवासाः।। (ऋग्वेद 10. 71. 4)

स्पष्ट है कि वेद का ऋषि वेदवाणी को साधारण नहीं मानता, प्रत्युत यह मानता है कि उसमें गहरे रहस्य छिपे हैं। उस छिपे हुए गूढ रहस्य को उद्घाटित करके ही कोई वेद-व्याख्या कृत-कृत्य हो सकती है। केवल शब्द का अर्थ कर देने मात्र से कोई विशेष प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।

साक्षात्कृद्धर्मा वैदिक ऋषि

सायणाचार्य ने वेदार्थ की गूढ़ता को यह कहकर प्रकट किया है कि वेद की वेदता इसमें है कि वेद उन उपायों का वर्णन करता है जो न प्रत्यक्ष और अनुमान द्वारा नहीं जाने जा सकते।

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न विद्यते।
एतद्विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता।।

प्रत्यक्ष अथवा अनुमान द्वारा तो हम जैसे साधारण मनुष्य भी पदार्थों को जानते ही हैं, किन्तु वेद के ऋषियों की विशेषता यह है कि वे अपनी क्रान्तदर्शिता द्वारा उन धर्मों का भी साक्षात्कार कर लेते हैं जिन्हें हम प्रत्यक्ष या अनुमान द्वारा नहीं जान सकते। वेदार्थ को जानने के लिये प्राचीनतम वैदिककोश निघण्टु पर निरुक्त नामक व्याख्या लिखने वाले यास्क ने ऋषियों का विशेषण 'साक्षात्कृतधर्मा' दिया है। साक्षात्कार अतीन्द्रिय ज्ञान को कहा जाता है।

वेदों की प्रतीकात्मक भाषा

विज्ञान के क्षेत्र में भी आज परापरमाणु (सब्-एटोमिक) स्तर पर ऐसे अस्तित्व की चर्चा की जाती है जो अतीन्द्रिय है। यह परापरमाणु जगत् तो एक सीमा तक प्रत्यक्ष अथवा अनुमान का विषय है भी, किन्तु मनु तो वेद की सीमा उस स्तर तक मानते हैं जहाँ प्रत्यक्ष और अनुमान जा ही नहीं सकता। एक समय तक विज्ञान का विषय भौतिक जगत् ही था। किन्तु आज का विज्ञान आकर्षण-शक्ति-क्षेत्र तथा विद्युच्चुम्बकीय क्षेत्र जैसे स्थूलेतर विषयों का भी अध्ययन करता है। परापरमाणु स्तर पर विवेचन करते समय भौतिक विज्ञान के सम्मुख जो समस्या आती है उसका उल्लेख डब्ल्यू हाईजनबर्ग ने इन शब्दों में किया है-

इस क्षेत्र में भाषा की समस्या वस्तुतः गम्भीर है। हम परमाणु की रचना के सम्बन्ध में किसी प्रकार कुछ कहना चाहते हैं-किन्तु परमाणु के सम्बन्ध में दैनन्दिन व्यवहार की भाषा में कुछ नहीं कहा जा सकता है।[१]

डॉ. फ्रिटजॉ काप्रा ने इस स्थिति का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है-

इस स्तर पर पदार्थ सम्बन्धी ज्ञान सीधा ऐन्द्रिक अनुभव से नहीं आता, अतः सामान्य भाषा जो कि इन्द्रियगोचर जगत् से ही बिम्ब ग्रहण करती है, प्रतीति में आने वाली स्थिति का वर्णन करने के लिये पर्याप्त नहीं रहती।[२]

भाषा सम्बन्धी इस कठिनाई को दूर करने के लिये विज्ञान गणितीय भाषा का प्रयोग करता है । भाषा सम्बन्धी यह कठिनाई वेद के सम्मुख भी है, क्योंकि उसे भी अतीन्द्रिय अनुभवों को अभिव्यक्त करना है। वेद इस कठिनाई का समाधान प्रतीकात्मक भाषा का सहारा लेकर करता है। अतः वेदव्याख्या

का मुख्य लक्ष्य प्रतीक अथवा पारिभाषिक शब्दों का अर्थ खोलना है। वेद की इस प्रतीकात्मक शैली को ही लेकर ब्राह्मण ग्रन्थों में इस रूप में कहा है कि देवता परोक्षप्रिय होते हैं, प्रत्यक्षप्रिय नहीं–परोक्षप्रिया वै देवाः प्रत्यक्षद्विषः (गोपथ ब्राह्मण १.२.२१)। गणित की भाषा कृत्रिम है किन्तु प्रतीक की भाषा में हम उन्हीं शब्दों को काम में लेते हैं जिनका प्रयोग हम दैनन्दिन व्यवहार में करते हैं तथापि उन दैनन्दिन शब्दों का भी प्रतीक रूप में प्रयोग होने पर वह अर्थ नहीं रह जाता जो अर्थ सामान्य व्यवहार के समय रहता है। अतः लौकिक संस्कृत का ज्ञान वैदिक मन्त्रों के अन्वय तथा शब्दार्थ जानने में भले ही सहायक हो जाये, किन्तु वैदिक मन्त्रों का वास्तविक तात्पर्य जानने के लिये हमें वैदिक शब्दों के पारिभाषिक अथवा प्रतीकार्थ जानने ही होंगे। वैदिक शब्दों के ये पारिभाषिक या प्रतीकार्थ जितनी विशदता से ब्राह्मण ग्रन्थों में दिये गये है, अन्यत्र कहीं नहीं दिये गये। इसलिए ब्राह्मण ग्रन्थों का गहरा और विस्तृत अध्ययन किये बिना वेद के मर्म को जानना असम्भव है।

वैदिक शब्द के अर्थों की व्यापकता

वैदिक शब्दों का अर्थपटल व्यापक है। उदाहरण के लिये हम अग्नि शब्द को लें। ऋग्वेद के प्रारम्भ में प्रथम शब्द अग्नि ही आया है। अग्नि शब्द का सामान्य अर्थ आग है, किन्तु ऋग्वेद (१.१६४.४६) कहता है कि इन्द्र, मित्र, वरुण, यम, मातरिश्वा–ये सब अग्नि के ही नाम हैं–

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।।

स्पष्ट है कि ऐसा वक्तव्य सामान्य अग्नि के लिए नहीं दिया जा सकता। अग्नि का एक रूप वह है जो भट्टी आदि में दिखाई देता है। दूसरी ओर शतपथ ब्राह्मण(१४.८.१०.१) में अग्नि के उस स्वरूप की चर्चा है जिसे वैश्वानर कहा जाता है और जो हमारे शरीर के अन्दर रहकर अन्न पचाता है–अयमग्निर्वैश्वानरः। योऽयमन्तःपुरुषे येनेदमन्नं पच्यते। यह वैश्वानराग्नि भट्टी की भूताग्नि से कहीं अधिक सूक्ष्म है। जो काम यह अन्न को रक्त मांसादि में परिणत करने का करती है वह कार्य भट्टी की भूताग्नि कदापि नहीं कर सकती। यही अग्नि ऊष्मा के रूप में जीवनी शक्ति है। जब तक यह ऊष्मा है तब तक जीवन है। जीवनशक्ति के रूप में इस अग्नि का नाम महाभारत वनपर्व-मार्कण्डेय समस्यापर्व-२२१.४ में मनु दिया है–

ऊष्मा चैवोष्मणो जज्ञे सोऽग्निर्भूतेषु लक्ष्यते।
अग्निश्चापि मनुर्नाम प्राजापत्यमकारयत्।।

अग्नि का एक अन्य रूप ब्रह्माग्नि है। यह ब्रह्माग्नि ही हमारे समस्त चिन्तन का प्रेरणा स्रोत है। इस ब्रह्माग्नि रूप के सम्बन्ध में ही मैत्रायणी संहिता (१.६.१) कहती है 'अग्निर्ऋषिः' अर्थात् अग्नि ऋषि

है। इस प्रकार के वक्तव्य आधुनिक वैज्ञानिक को स्वीकार्य नहीं है। ब्रह्माग्नि की बात तो दूर , वह तो जठराग्नि को भी मानने के लिये तैयार नहीं है। इसका कारण यह है कि वह अग्नि शब्द से केवल भूताग्नि को ही समझता है और अन्न की पाचन क्रिया में उसे कहीं भी भूताग्नि उपलब्ध नहीं होती। इसलिए वह वैदिक ऋषि की इस दृष्टि को नहीं समझ पाता कि एक ही अग्नि अनेक रूप धारण कर लेती है। दूसरी ओर ऋग्वेद (८.५.८.२) स्पष्ट कहता है कि एक ही अग्नि अनेक रूप धारण कर लेता है–एक एवाग्निर्बहुधा समिद्धः। ऋग्वेद (५.३.१) कहता है कि हे अग्नि! तुम ही वरुण हो, तुम ही मित्र बन जाते हो, सब देवता तुममें हैं, तुम यजमान मनुष्य के लिए इन्द्र बन जाते हो–

त्वमग्ने वरुणो जायसे यत् त्वं मित्रो भवसि यत्समिद्धः।
त्वे विश्वे सहसस्पुत्र देवास्त्वमिन्द्रो दाशुषे मर्त्याय।।

देवप्राण

वेद के इस प्रकार के वक्तव्य सामान्यतः पाठक को पहेली जैसे प्रतीत होते हैं। इसलिए इस विषय पर थोड़े स्पष्टीकरण की आवश्यकता है।

शतपथ ब्राह्मण (७.५.१.२१) स्पष्ट कहता है कि देव का अर्थ है प्राण–तस्माद्देवा प्राणाः। स्वयं तैत्तिरीय संहिता (६.१.४.५) भी यही कहती है– प्राणा वै देवाः। स्पष्ट है कि सभी देव प्राण हैं इसलिए अग्नि भी प्राण है। शतपथ ब्राह्मण बारम्बार (६.३.१.२१, २.२.२.५५, ९.५.१.३८) इस बात को दोहराता है कि अग्नि प्राण है–प्राणा अग्निः। जिस प्रकार अग्नि प्राण है उसी प्रकार अन्य देवता भी प्राण है। गोपथ ब्राह्मण (२.४.११) कहता है कि वरुण प्राण है– यः प्राणः स वरुणः। जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण (३.१.३.६) कहता है कि मित्र प्राण है–प्राणो मित्रम्। शतपथ ब्राह्मण (६.१.२.२८) कहता है कि इन्द्र प्राण –प्राण इन्द्रः। एक अन्य स्थल पर शतपथ ब्राह्मण (१२.९.१.१.४) बलपूर्वक कहता है कि इन्द्र और कुछ नहीं है प्राण ही है–प्राण एव इन्द्रः। ब्राह्मणग्रन्थों के इन वचनों पर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वेद का अग्नि को मित्र, वरु ण या इन्द्र बताना प्रमत्त प्रलाप नहीं है प्रत्युत सर्वथा युक्तिसङ्गत है। इसका समीकरण इस प्रकार होगा–

(i) अग्नि = प्राण
प्राण = वरु ण
अग्नि = वरु ण

(ii) अग्नि = प्राण
प्राण = मित्र
अग्नि = मित्र

(iii) अग्नि = प्राण
प्राण = इन्द्र
अग्नि = इन्द्र

(iv) अग्नि = प्राण
प्राण = देव
अग्नि = देव

बहुदेववाद तथा एकदेववाद

उपर्युक्त चतुर्थ समीकरण के अनुसार अग्नि का किसी भी देवता के साथ तादात्म्य स्थापित किया जा सकता है। इसलिए ऐतरेय ब्राह्मण (२.३) ने कह दिया कि अग्नि ही सब देवता है–अग्निः सर्वा देवताः। वस्तुतः सब देवताओं को प्राण रूप समझ लेने पर वेद के बहुदेवतावाद में अन्तर्निहित एकदेवतावाद का रहस्य समझ में आता है। ऐसा कहा जाता है कि एकदेववाद का प्रादुर्भाव परवर्ती वैदिक काल में हुआ इसलिए उसके सङ्केत तथाकथित अर्वाचीन प्रथममण्डल अथवा दशममण्डल में ही प्राप्त होते हैं, किन्तु हम देखते हैं कि पश्चिमी विद्वानों द्वारा ऋग्वेद (८.५.८.२) के प्राचीन माने जाने वाले अंश में भी बहुदेववाद में एकदेववाद का दर्शन ऋषि द्वारा उस समय अभिव्यक्त हुआ है जब वह कहता है कि एक ही अग्नि अनेक रूपों में समिद्ध है, एक ही सूर्य विश्व में व्याप्त है, एक ही उषा सब ओर प्रकाशित है। वस्तुतः यह एक ही सब कुछ बन गया है–

एक एवाग्निर्बहुधा समिद्धः एक सूर्य्यो विश्वमनुप्रभूतः।
एकैवोषाः सर्वमिदं विभाति एकं वा इदं विबभूव सर्वम्।।

प्रश्न होता है कि यदि एक ही प्राण अनेक देवताओं से अभिहित है तो उस देव का एक ही नाम क्यों नहीं दे दिया गया, अनेक नामों की क्या आवश्यकता है? इसका समाधान करते हुए यास्काचार्य (निरुक्त, ७.२) कहते हैं कि देवता एक ही है, किन्तु उसके नाम अनेक हैं क्योंकि उनके कर्म पृथक्-पृथक् हैं–तासां महाभाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति। अपि वा कर्मपृथक्त्वात्। इसकी व्याख्या करते हुए दुर्गाचार्य कहते हैं कि देवताओं का ऐश्वर्य इतना अधिक है कि उनके अनेक रूप हैं और इसलिए उनके नाम भी अनेक हैं– महाभाग्यादैश्वर्ययोगादेकात्मनामनेकधा विकुर्वन्तीनामेकैकस्याः प्रतिविकारं जातवेदा वैश्वानरो वरुणो रुद्रोऽश्विनौ उषा इत्येवमादीनि बहूनि नामधेयानि भवन्ति। यदि वैदिक देवों का वास्तविक स्वरूप जानना हो तो उनके कर्म को समझना चाहिये । मूलतः वे सभी प्राण हैं, किन्तु उनके कर्म भिन्न-भिन्न हैं। इसलिए यास्क (निरुक्त, ७.१) ने उन्हें कर्मजन्मा कहा है। इस पर दुर्गाचार्य का कहना है कि यदि यह देवता भिन्न-भिन्न कर्मानुकूल रूप धारण न करे तो संसार में कर्म के फल की सिद्धि ही न हो– न ह्येतेभ्य ऋते लोकस्य कर्मफलसिद्धिः स्यात्। अपना-अपना कर्म करने में सभी देव महान् हैं इसलिए किसी देव को दूसरे देव से छोटा नहीं माना जा सकता, अपितु जिस कर्म का वर्णन होता है उस कर्म के अधिष्ठाता देव को उस कर्म का वर्णन करते समय सर्वोच्च बना दिया जाता है। ऋग्वेद (८.३०.१) कहता है कि देवताओं में कोई छोटा नहीं, सभी महान् हैं–न हि वो अस्त्यर्भको देवासो न कुमारकः। विश्वे सतो महान्त इत्।

ज्ञान तथा विज्ञान

एकदेववाद तथा बहुदेववाद के इस प्रसंग में ही ज्ञान तथा विज्ञान की भी संक्षिप्त चर्चा उपयोगी होगी। अनेक से एक की ओर जाना ब्रह्मविद्या अथवा ज्ञान का विषय है। इसके विपरीत एक से अनेक की ओर जाना विज्ञान अथवा यज्ञविद्या का विषय है। पण्डित मधुसूदन ओझा के ग्रन्थ महर्षिकुलवैभवम् का उपोद्घात (पृष्ठ ३) लिखते समय उनके शिष्य महामहोपाध्याय गिरधर शर्मा चतुर्वेदी ने कहा है– एकस्माद् अनेकस्मिन्नवतरणं विज्ञानं यज्ञविद्या तथा अनेकस्मादेकस्मिन्नारोहणज्ञानं ब्रह्मविद्या। विज्ञान का यज्ञ तथा कर्म से सम्बन्ध तैत्तिरीय आरण्यक (८.५.१) तथा तैत्तिरीयोपनिषद् (२.५.१) में यह कहकर स्थापित किया गया है कि विज्ञान से यज्ञ का तथा कर्मों का विस्तार होता है–विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च। इसी श्रुतिप्रमाण के आधार पर गीता(१८.४२) पर भाष्यं लिखते हुए श्री मधुसूदन सरस्वती ने कहा कि विज्ञान कर्मकाण्ड में यज्ञादि कर्म करने की कुशलता का नाम है–विज्ञानं कर्मकाण्डे यज्ञादिकर्मकौशलम्।

यद्यपि ज्ञान और विज्ञान दोनों का क्षेत्र क्रमशः एकता और अनेकता होने के कारण पृथक् है तथापि दोनों एक –दूसरे के परिपूरक हैं। अनेक की अवधारणा के बिना एक की अवधारणा निरर्थक है और एक की अवधारणा के बिना अनेक की अवधारणा निराधार है। इसलिए यजुर्वेद (४०.१२) में विद्या और अविद्या के समन्वय पर बल दिया गया है। वहाँ कहा गया है कि जो विद्या अर्थात् ज्ञान और अविद्या अर्थात् कर्म दोनों को साथ-साथ जानता है वह अविद्या के द्वारा मृत्यु को पार करके विद्या के द्वारा अमृतत्व को प्राप्त करता है–

विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।।

ज्ञान और विज्ञान के इस समन्वय को और भी स्पष्ट करते हुए गीता(७.२) में भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को विज्ञान सहित ज्ञान देने की बात कही है–ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः। गीता (८.१) में इसी बात को दोहराते हुए कृष्ण ने फिर 'ज्ञानं विज्ञानसहितम्' (९.१) कहा है। इसके बावजूद भारत में जब ज्ञान का तो यशोगान हुआ, किन्तु कर्म की निन्दा हुई तो स्वाभाविक था कि विज्ञान का भी ह्रास हो गया क्योंकि जैसा हम ऊपर तैत्तिरीय आरण्यक तथा तैत्तिरीय उपनिषद् के साक्ष्य द्वारा कह चुके हैं कि कर्म का विज्ञान से गहरा सम्बन्ध है। ज्ञान का महत्त्व असन्दिग्ध है किन्तु उपर्युक्त श्रुति तथा स्मृति के प्रमाणानुसार ज्ञान के समान ही विज्ञान भी आदरणीय है तथा उपास्य है। परवर्ती काल में इस बात को भुला देने से विज्ञान तथा तदाश्रित कर्म की उपेक्षा से भारतीय संस्कृति में जो एकाङ्गिता आई वही हमारे ह्रास का मुख्य कारण बनी। प्रस्तुत ग्रन्थ में हम प्रयत्न करेंगे कि श्रुति और स्मृति के

आदेशानुसार ज्ञान तथा विज्ञान दोनों को समान महत्त्व दें और भारतीय चिन्तन की श्रौत स्मार्त सर्वाङ्गीणता को उजागर करें। जिसे श्रुति विद्या-अविद्या कहती है, गीता ज्ञान-विज्ञान कहती है उसे ही आगम शिव और शक्ति कहते हैं। ज्ञान शिव है, कर्म उसकी शक्ति है तथा शक्ति और शक्तिमान् में अविनाभावसम्बन्ध है-ज्ञानं शिवः कर्म च तच्छक्तिः शक्तिशक्तिमतोश्चाविनाभावः (महर्षिकुलवैभवम् उपोद्घात, पृष्ठ ५)। ज्ञान और विज्ञान के इस अविनाभावसम्बन्ध को आधुनिक काल में इस प्रकार प्रकट किया गया है कि विज्ञान का कार्य विश्लेषण है, ज्ञान का कार्य संश्लेषण है। और ये दोनों एक -दूसरे के बिना अधूरे हैं, क्योंकि ये दोनों ही कार्य हमारे ही मस्तिष्क के दो भिन्न भिन्न भागों के कार्य हैं-

हमारे मस्तिष्क का बायां भाग पूर्वापर रूप में विश्लेषण करने में अधिक कुशल है। इसका काम सूचनाओं को सरल रेखाकार क्रमिक रूप में व्यवस्थित करना है। मस्तिष्क का दाहिना भाग, जो बायें भाग को नियन्त्रित करता है, मुख्यतः समग्रता से विचार करता है जो कि संश्लेषण के लिये अधिक उपयुक्त है और जो सूचनाओं को फैलाकर युगपद् देखता है।[३]

संदर्भ-

1. The problems of language here are really serious. We wish to speak in some way about the structure of atoms—But we cannot speak about atoms in ordinary language. Tao of Physics Frit of Capra. द्वारा पृ. ५३ पर उद्धृत
2. The Knowledge about matter of this level is no longer derived from direct sensory experience, and therefore our ordinary language, which takes its image from the world of the senses is no longer adequate to describe the observed phenomena. उपरिवत्, पृ. ६० पर उद्धृत
1. Left hemisphere, which seems to be more specialized in analytlic, linear thinking which involves processing information sequentially; the right hemisphere, controlling the left side seems to function predominantly in a holistic mode that is appropriate for synthesis and tends to process information more diffusely and simultaneously. Fritjof Capra, The turning Point पृ २९३

पीठाचार्य, धर्मदर्शनसंस्कृति शोधपीठ

विश्वगुरुदीप आश्रम शोध संस्थान, जयपुर

वैशेषिकसम्मत ज्ञानमीमांसा

प्रस्तोता– महामण्डलेश्वर स्वामी ज्ञानेश्वर पुरी

ज्ञान (प्रमा) क्या है? ज्ञान और अज्ञान (अप्रमा) में क्या भेद है? ज्ञान के साधन अथवा निश्चायक घटक कौन है? इन और इसी प्रकार के कई अन्य प्रश्नों के उत्तर में ही ज्ञान के स्वरूप का कुछ परिचय प्राप्त किया जा सकता है। ज्ञान अपने आप में वस्तुतः एक निरपेक्ष सत्य है, किन्तु जब उसको परिभाषित करने का प्रयास किया जाता है तो वह विश्लेषक की अपनी सीमाओं के कारण ग्राह्यावस्था में सापेक्ष सत्य की परिधि में आ जाता है। फिर भी भारतीय मान्यताओं के अनुसार कणाद आदि ऋषि सत्य के साक्षात् द्रष्टा हैं। अतः उन्होंने जो कहा, वह प्रायः ज्ञान का निरपेक्ष विश्लेषण ही माना जाता है।

महर्षि कणाद ने ज्ञान की कोई सीधी परिभाषा नहीं बताई। न्यायसूत्र में अक्षपाद गौतम ने ज्ञान को बुद्धि और उपलब्धि का पर्यायवाची माना। प्रशस्तपाद ने ज्ञान के इन पर्यायों में 'प्रत्यय' शब्द को भी जोड़ा। ऐसा प्रतीत होता है कि गौतम, कणाद और प्रशस्तपाद के समय तक ज्ञान के स्थान पर बुद्धि शब्द का प्रयोग होता था। शिवादित्य ने भी आत्माश्रय प्रकाश को बुद्धि कहा है। अतः न्याय-वैशेषिक में बुद्धि का जो विशेषण किया गया है, उसी को ज्ञान का विशेषण मान लेना अनुपयुक्त नहीं होगा। ज्ञान को ही शब्दान्तर से प्रमा औश्र विद्या भी कहा जाता है। मीमांसकों के अनुसार ज्ञान आत्मा का कर्म है किन्तु न्याय-वैशेषिक के अनुसार ज्ञान आत्मा का गुण है। अद्वैत वेदान्त में ज्ञान या चैतन्य को आत्मा का गुण नहीं, अपितु स्वरूप या स्वभाव माना गया है, किन्तु न्यायवैशेषिकों के अनुसार ज्ञान आत्मा का स्वभाव नहीं अपितु आगन्तुक गुण है। सांख्य में बुद्धि और ज्ञान को अलग-अलग मानते हुए यह कहा गया है कि बुद्धि (महत्त्व) प्रकृति का कार्य है और ज्ञान उसका साधन। कुछ पाश्चायत्त्य मनीषियों ने ज्ञान को मन और विषय के बीच का एक सम्बन्ध बताया है, पर जैसा कि पहले भी कहा गया, वैशेषिक ज्ञान को आत्मा का गुण मानते हैं, सम्बन्ध नहीं। विश्वनाथ पञ्चानन ने बुद्धि के दो भेद अनुभूति और स्मृति मान कर अनुभूति के अन्तर्गत प्रमाणों का निरूपण किया। अन्नंभट्ट ने वैशेषिकों के चिन्तन का सार सा प्रस्तुत करते हुए कहा कि-समस्त व्यवहार के हेतुभूत गुण को बुद्धि या ज्ञान कहते हैं। बुद्धि या ज्ञान या प्रमा का निश्चय प्रमाणों के द्वारा सम्पन्न होता है।

प्रमाण का स्वरूप

व्युत्पत्ति की दृष्टि से प्रमाण शब्द प्र उपसर्गपूर्वक माङ् धातु से करण में ल्युट् प्रत्यय जोड़ने निष्पन्न

होता है, जिसका अर्थ है- प्रमा का कारण। प्रमाण की परिभाषा विभिन्न दर्शनों के आचार्यों ने विभिन्न रूप से की है। सौत्रान्तिक तथा वैभाषिक बौद्धों ने यह कहा कि प्रमाण वह वहै, जिससे सम्यक् ज्ञान हो। नागार्जुन प्रमाण की सत्ता नहीं मानते। दिङ्नाग की परम्परा में धर्मकीर्ति ने यह बताया कि विवक्षित अर्थ को बताने वाला सम्यक् तथा अविसंवादि ज्ञान प्रमाण है। जैन परम्परा में अकलंक के अनुसार पूर्व अनधिगत, व्यवसायात्मक सम्यक् ज्ञान तथा हेमचन्द्र के अनुसार पूर्वाधिगत सम्यक् ज्ञान भी प्रमाण है। सांख्यसूत्रकार यह मानते हैं कि असन्निकृष्ट अर्थ के ज्ञान को और प्राभाकर अनुभूति को प्रमाण मानते हैं। वेदान्त में अगृहीतग्राहित्व को प्रमाण का मुख्य आधार माना गया है।

न्यायपरम्परा में प्रचलित मन्तव्यों का समाहार करके प्रमाण की व्यापक परिभाषा देते हुए जयन्तभट्ट यह कहते हैं कि - वह सामग्री-साकल्य ही प्रमाण है, जो अव्यभिचारि तथा असंदिग्ध ज्ञान का जनक हो और जिसमें ज्ञान के बोध और अबोधस्वरूप समग्र कारणों का समावेश हो। आचार्य कणाद ने प्रमाण के लिए दोषराहित्य आवश्यक बताया। वल्लभाचार्य ने भी सत्य ज्ञान को विद्या कहा है। श्रीधर ने अध्यवसाय शब्द को भी प्रमाण की परिभाषा में जोड़ा। शंकर मिश्र ने उपस्कार में यह कहा कि प्रमाण वह है जो ज्ञान का उत्पादक हो।

प्रमाण के भेद

वैशेषिक दर्शन में प्रमाण के दो ही भेद माने गये हैं - प्रत्यक्ष और अनुमान। न्यायपरम्परा में प्रवर्तित अन्य दो प्रमाणों - उपमान और शब्द- का वैशेषिकों ने अनुमान में ही अन्तर्भाव किया है। न्यायपरम्परा में भी भासर्वज्ञ (10वीं शती) ने उपमान को पृथक् प्रमाण नहीं माना और न्याय के शेष सब पदार्थों का विवेचन भी शेष तीन प्रमाणों के अन्तर्गत कर दिया।

प्रत्यक्ष का स्वरूप और भेद

इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य ज्ञान की प्रत्यक्षता का संकेत वैशेषिक सूत्र में भी उपलब्ध है। प्रशस्तपाद के कथनों का भी यह सार है कि प्रत्यक्ष शब्द ज्ञान सामान्य का वाचक है। प्रत्यक्ष के दो भेदों की ओर संकेत करते हुए प्रशस्तपाद यह कहते हैं कि प्रत्यक्ष में विषय का आलोचनमात्र होता है। उन्होंने एक वैकल्पिक परिभाषा यह भी दी है कि आत्मा, मन, इन्द्रिय और वस्तुओं के सन्निकर्ष से उत्पन्न निर्दोष तथा शब्द द्वारा अनुच्चारित अव्यपदेश्य जो ज्ञान है, वह प्रत्यक्ष कहलाता है। यह गो है-ऐसा सुनने पर भी ज्ञान होता है, वह शब्द की अतिशयता है, चक्षु की नहीं। चक्षु उसमें गौण रूप से सहायक है। प्रशस्तवाद के इन कथनों में प्रत्यक्ष के सविकल्पक और निर्विकल्पक इन दोनों भेदों के सामान्य और विशिष्ट लक्षणों का भी समावेश हो गया है। श्रीधर भी प्रत्यक्ष की अक्षमक्षं प्रतीत्य या बुद्धिरुत्पद्यते तत्प्रत्यक्षं प्रमाणम्'- ऐसी परिभाषा करते हैं। अक्षशब्द में यहाँ घ्राण, रसना, चक्षु, त्वक्, श्रोत्र और मन

इनका समाहार होता है, कर्मेन्द्रियों का नहीं। प्रत्यक्ष ज्ञान केवल द्रव्य, गुण, कर्म और सामान्य का ही होता है, विशेष और समवाय का नहीं। महर्षि कणाद और महर्षि गौतम दानों ने ही इन्द्रियार्थसन्निकर्ष को प्रत्यक्ष प्रमाण माना, किन्तु उन्होंने इसके निर्विकल्पक और सविकल्पक इन दो भेदों का उल्लेख नहीं किया है। भाष्यकार प्रशस्तपाद ने दोनों का सांकेतिक उल्लेख किया और उनकी परिभाषाएँ भी बताई।

यह ज्ञातव्य है कि न्यायसूत्रकार द्वारा प्रयुक्त 'अव्यपदेश्यम्' और 'व्यवसायात्मकम्' इन दो लक्षण घटाकों के आधार पर वाचस्पति मिश्र ने प्रत्यक्ष के सविकल्पक और निर्विकल्पक इन दो भेदों का स्पष्ट प्रवर्तन किया। बौद्धों के विचार में निर्विकल्पक ही प्रत्यक्ष है, जबकि वैयाकरण सविकल्पक को ही प्रत्यक्ष मानते है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार निर्विकल्पक शुद्ध सत् का ग्रहण करता है और सविकल्पक गुण कर्म आदि से युक्त सत् का। धर्मराजाध्वरीन्द्र का यह कथन है कि निर्विकल्पक संसर्गानवगाही ज्ञान है और सविकल्पक वैशिष्टयावगाही ज्ञान न्यायय वैशेषिक यह कहते है कि प्रत्यक्ष के इन दोनों भेदों में आत्मा तो एक ही है, किन्तु अवस्थाभेद के कारण नामभेद है। निर्विकल्पक प्रथम सोपान है और सविकल्पक द्वितीय।

निर्विकल्पक प्रत्यक्ष

प्रशस्तपाद के अनुसार निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में पदार्थ के सामान्य और विशिष्ट गुणों का साक्षात्कार तो होता है, किन्तु दोनों का भेद मालूम नहीं होता, इसमें पदार्थ के स्वरूपमात्र का आचोलन होता है। श्रीधर के कथनानुसार भी निर्विकल्पक प्रत्यक्ष वह है जो स्वरूपमात्र के आलोचन से युक्त हो।

वैयाकरण निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को प्रामाणिक नहीं मानते, क्योंकि उनके मतानुसार वह व्यावहारिक क्रियाकलाप के योग्य नहीं होता। किसी भी पदार्थ का बोध उसके नाम के साथ ही होता है। बिना भाषा के कोई विचार नहीं होता। किन्तु नैयायिकों और वैशेषिकों ने वैयाकरणों के इस मत का खण्डन करते हुए यह बताया कि गूंगे को भी पदार्थों का बोध होता है। यदि रूप और नाम का तादात्म्य होता तो अन्धे को श्रोत्र से रूप का ग्रहण हो जाता, पर ऐसा नहीं होता।

सविकल्पक प्रत्यक्ष

सविकल्पक प्रत्यक्ष में सभी धर्म स्पष्ट रूप से भासित होते हैं। जैसे गो का निर्विकल्पक ज्ञान होने के अनन्तर उसके वर्ण आदि का जो ज्ञान होता है, वह सविकल्पक कहलाता है

बौद्ध सविकल्पक को ज्ञान नहीं मानते, क्योंकि उनके मत में विकल्प कल्पनाजन्य और भ्रान्त होते है। श्रीधर बौद्धों के मत खण्डन करते हुए यह कहते हैं कि कम्बुग्रीवादि रूप घट की विलक्षण प्रतीति, पटादि पदार्थों की प्रतीति से विलक्षण होती है, अतः सविकल्पक प्रत्यक्ष प्रामाणिक है।

शिवादित्य आदि उत्तरवर्ती आचार्य भी प्रशस्तपाद के मत का अनुवर्तन करते हुए यह मानते हैं

कि सविकल्पक से पहले निर्विकल्पक की और निर्विकल्पक के अनन्तर सविकल्पक की सत्ता मानना युक्तिसंगत है।

अनुमान का स्वरूप और भेद

''लीनम् परोक्षम् अर्थम् गमयति इति लिंगम्'' व्युत्पत्ति की दृष्टि से लिंग का अर्थ है परोक्ष ज्ञान। वैशेषिक सूत्रकार कणाद यह कहते हैं कि कार्य, कारण, संयोगी, विरोधी, एवं समवायी आदि के आधार पर, सम्बद्ध लिंगी का जो ज्ञान होता है वह लैंगिक अर्थात् अनुमान है। कणाद ने अनुमान के लक्षण में ही इस बात का निर्देश किया कि अनुमान (1) कारण, (2) कार्य, (3) संयोग, (4) विरोध और (5) समवाय इन पाँच प्रकार के हेतुओं (अपदेशों में से, किसी एक से भी किया जा सकता है।

वैशेषिकों के मन्तव्य का सार यह है कि अनुमिति का कारण लिंगज्ञान है, किन्तु इस संदर्भ में अन्नंभट्ट का यह कथन भी ध्यान देने योग्य है कि लिंगज्ञान को नहीं, अपि तु लिंगपरामर्श को अनुमिति का कारण माना जाना चाहिए।

कणाद ने अनुमान के भेदों का विवेचन नहीं किया, किन्तु प्रशस्तपाद ने यह बताया कि अनुमान के (1) दृष्ट और (2) सामान्यतोदृष्ट ये दो भेद हैं। उत्तरपक्षी वैशेषिकों ने प्रायः प्रशस्तपाद का अनुगमन किया।

दृष्ट अनुमान

ज्ञात (प्रसिद्ध) और साध्य में जाति का अत्यन्त भेद न होने पर अर्थात् हेतु के साथ पहले से ही ज्ञात रहने वाले साध्य, और जिस साध्य की सिद्धि की जाती है, उसमें सजातीयता होने पर जो अनुमान किया जाता है, वह दृष्ट अनुमान है। जैसे पहले किसी नगरस्थित गाय में सास्ना को देखनेके बाद अन्यत्र वन आदि मेंसास्नावान् प्राणी को देखा तो अनुमान किया कि वह गो है। जो वस्तु पहले लिंग के साथ देखी जाती है, वह साध्य कहलाती है। यहाँ प्रसिद्ध (ज्ञात) गो और साध्य गो में जाति का भेद नहीं है। अतः यह दृष्ट अनुमान है।

सामान्यतोदृष्ट अनुमान

प्रसिद्ध (ज्ञात) और साध्य में अत्यन्त जातिभेद होने पर भी यदि उनमें किसी सामान्य की अनुवृत्ति होती हो तो उस अनुवृत्ति से जो अनुमान किया जाता है, वह सामान्यतोदृष्ट कहलाता है। जैसे कृषक, व्यापारी, राजपुरुष आदि अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त होकर अपने अभिप्रेत फल को प्राप्त करते हैं। इससे यह विदित होता है कि प्रवृत्ति, फलवती होती है और लिंगसामान्य (फलवत्त्व) का स्वाभाविक सम्बन्ध है। कोई वर्णाश्रमी व्यक्ति संध्यावन्दन प्रभृति किसी धर्मपरक कार्य में प्रवृत्त है तो उससे यह अनुमान लगाया जाता है कि इस प्रवृत्ति का स्वर्गप्राप्ति जैसा कोई फल है। क्योंकि प्रवृत्ति फलवती होती है। इस

प्रकार हेतुसामान्य और फलसामान्य की व्याप्ति के आधार पर जो अनुमान किया जाता है वह सामान्यतोदृष्ट कहलाता है।

मीमांसकादिप्रवर्तित अन्य प्रमाणों की अन्तर्भूतता

नैयायिकों ने प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द ये चार प्रमाण माने हैं। किन्तु वैशेषिकों ने शब्द और उपमान को पृथक्-पृथक् प्रमाण नहीं माना। उन्होंने उपमान को शब्द में तथा शब्द को अनुमान में अन्तर्भूत माना और इस प्रकार केवल प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रमाण स्वीकृत किये। मीमांसकप्रवर्तित अनुपलब्धि, अर्थापत्ति तथा पौराणिकों आदि द्वारा प्रवर्तित सम्भव, एतिह्य जैसे प्रमाणों का तो न्याय के आचार्यों ने ही खण्डन कर दिया था। अतः उनके प्रमाणत्व के निरसन की कोई विशेष आवश्यकता वैशेषिकों को प्रतीत नहीं हुई। फिर भी श्रीधर ने न्यायकन्दली में इनका युक्तिपूर्वक खण्डन किया है। अन्नंभट्ट ने तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से वैशेषिक नय का अनुगमन करते हुए भी ज्ञानमीमांसा में न्याय का अनुगमन किया और चार प्रमाण माने। किन्तु अन्नंभट्ट के वैशेषिक नय की प्रमाणसम्बन्धी इस मान्यता पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा कि प्रमाण दो ही हैं प्रत्यक्ष और अनुमान।

सार और समाहार

नैयायिकों के विपरीत प्रमाण को एक स्वतन्त्र पदार्थ न मानकर वैशेषिकों ने उसको बुद्धि नामक गुण के अन्तर्गत समाविष्ट किया। प्रशस्तपाद ने बुद्धि के दो भेद बताये - विद्या और अविद्या। विद्या के अंतर्गत प्रमाण और अविद्या (अप्रमा) के अन्तर्गत संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय तथा स्वप्न का परिगणन किया। न्यायसूत्र में परिगणित तर्क, संशय आदि का भी प्रायः अनुमान मे अन्तर्भाव करके वैशेषिकों ने उनका पृथक् विश्लेषण नहीं किया। अप्रसिद्ध, असत् और संदिग्ध इन तीन का ही हेत्वाभासों के रूप में परिगणन किया। इस प्रकार ज्ञानमीमांसासंबन्धी कतिपय अन्य संदर्भो में न्याय-वैशेषिक मतों में भिन्नता है, फिर भी ज्ञानमीमांसा के संदर्भ में उनका पार्थक्य प्रमाणों की संख्या पर ही निर्भर माना जाता है।

प्रधान संपादक,
विश्व दीप दिव्य संदेश, जयपुर

वर्णोत्पत्तिप्रक्रिया

डॉ. सुरेन्द्र कुमार शर्मा

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कामाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्।।1।।

मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयते स्वरम्।
कण्ठे तु मध्यमं शीर्ष्णि तारं जनयति स्वरम्।।2।।

सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः।
वर्णान् जनयते तेषां विभागः पधा भवेत्।।3।।

नाभौ प्राणस्य वायुत्वम् वायुः स्यादुरसि स्वरः।
स्वरो ध्वनिर्भवेत् शीर्ष्णि ध्वनिर्वर्णो मुखे भवेत्।।4।।

एत्वं मुखस्थिते स्थाने तत्र तत्र तु जन्मतः।
स्वराणां व्यञ्जनानां च स्थानभेदा भवन्ति हि।।5।।

अकारश्च हकारश्च जिह्वामूल्यं विसर्गकः।
कण्ठेनोच्चारणादेषां स्थानं कण्ठो हि जायते।।6।।

इकारश्च यकारश्च चवर्गस्तालवीयशः।
तालुनोच्चारणादेषां तालुस्थानं निगद्यते।।7।।

ऋकारश्च रकारश्च टवर्गो मूर्धजश्च षः।
एतेषां मूर्धजन्यत्वात् मूर्धा स्थानं हि कथ्यते।।8।।

लृकारश्च लकारश्च तवर्गो दन्त्यसस्तथा।
दन्तदेशोद्भवादेषां स्थानं दन्ताः प्रकीर्तिताः।।9।।

उकारश्च पवर्गश्च तथोपध्मानभाक् च यः।
ओष्ठोद्भवत्वादेतेषां स्थानमोष्ठद्वयं मतम्।।10।।

ञमङणनवर्णानाम् अनुनासिकसंज्ञिनाम्।
तत्तत्स्थानातिरेकेण नासास्थानं विशिष्यते।।11।।

अनुस्वारः सदाऽस्माभिर्नासा द्वारा निगद्यते।
ततोऽनुस्वारवर्णस्य स्थानं नासा प्रकीर्त्यते।।12।।

एकारैकारयोः स्थानद्वयं कण्ठश्च तालु च।
ओकारौकारयोश्चापि कण्ठोष्ठं स्थानकद्वयम्।।13।।

यमानामानुनासिक्यात् स्थानं तेषां तु नासिका।
दुःस्पृष्टस्य लकारस्य स्थानं यत्र हि सोच्यते।।14।।

इत्थं विभिन्नस्थानत्वाद् वर्णा वै भिन्नजातयः।
परस्परं विजातीयाः सजातीयाश्च ते मताः।।15।।

प्राचार्यचरः,
श्री दादू आचार्य संस्कृत महाविद्यालय, जयपुर

कृपणपाल करुणा समुद्र रामानुज सम नहीं बियो

शास्त्री कोसलेन्द्रदास

रामानुजाचार्य वैष्णवों की प्राचीनतम परम्परा में अन्यतम श्रीसंप्रदाय की सुदृढ शास्त्रीय भित्ति के निर्माता हैं। वैष्णव संप्रदायों को शास्त्रीय रूप में स्थापित करने का श्रेय आचार्य रामानुज को है। अभी रामानुज का जन्म सहस्राब्दी वर्ष चल रहा है। इनका जन्म सहस्राब्दी वर्ष कब शुरू हुआ, इसकी खास चर्चा नहीं हुई। यह दुःखद आश्चर्य है कि हमारी राजनीति के महासागर में चंद हंस ही ऐसे हैं, जो रामानुजाचार्य के महत्त्व को समझते हैं। जो भारत को जानना-पहचानना चाहते हैं, उन्हें मालूम है कि आचार्य रामानुज भारतीय परंपरा के मेरुदंड हैं। उनके बिना भारत के अमर इतिहास की चर्चा पूरी नहीं की जा सकती। उनका दार्शनिक चिंतन अपने-आप में एक संसार है, जिसमें भक्ति की सर्वश्रेष्ठता है।

भारत के अमर भक्ति इतिहास में अप्रतिम साधक रामानुजाचार्य का जन्म 1016 ईस्वी में तमिलनाडु के श्रीपेरुंबुदूर में हुआ। वे संस्कृत और तमिल परंपरा के मिलन बिंदु हैं। उन्होंने समाज में जातिगत ऊंच-नीच और झोपड़ी-महल के बीच समानता के संवाद सेतु बनाए। कठोर धार्मिक क्रियाओं को लोगों के लिए सरल और सहज बनाया। ऐसा करते हुए वे अपने पूरे जीवन काल में तीन मोर्चों पर युद्धरत रहे। अपनी परंपरा और समसामयिक समस्याओं में सेतु बनाना पहला मोर्चा है। ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य लिखते वक्त वेदांत को जीवन की जटिलताओं से जोडऩा दूसरा और भक्ति को आम लोगों के लिए ईश्वर प्राप्ति का आसान तरीका बनाना तीसरा मोर्चा है। इस तरह उनका पूरा जीवन युद्धरत दिखाई देता है, जिसका संकेत रामधारी सिंह दिनकर ने अपनी पुस्तक 'संस्कृति के चार अध्याय' में किया है। वे लिखते हैं कि 'सामाजिक समता की दिशा में तत्कालीन ब्राह्मण जहां तक जा सकता था, आचार्य रामानुज वहां तक जाकर रुके। उनके संप्रदाय ने लाखों शूद्रों और अंत्यजों को अपने मार्ग में लिया, उन्हें वैष्णव-विश्वास से युक्त किया और उनके आचरण धर्मानुकूल बनाए और साथ ही ब्राह्मणत्व के नियंत्रणों की अवहेलना भी नहीं की।'

भक्ति सिद्धांत को मजबूत शास्त्रीय आधार प्रदान कर उसके वेद प्रतिपादित होने की पहले-पहल स्थापना रामानुजाचार्य ने की। 'पद्मपुराण' की एक मान्यता उन्हें भगवान विष्णु की शय्या शेष का अवतार कहता है। इसका संकेत चार शताब्दी पहले भक्त चरित्र के सर्वश्रेष्ठ द्रष्टा और गायक नाभादास ने 'भक्तमाल' में किया है। संत साहित्य के प्रामाणिक विद्वान 'भक्तमाल' की रचना 1600 ईस्वी के आसपास तथा रचना स्थल रैवासा (सीकर) तथा वृंदावन मानते हैं। यह भक्ति परंपरा, उसके विकास तथा भक्तों के

जीवन को जानने के लिए सबसे काम का दस्तावेज है। नाभादास ने रामानुजाचार्य के लोकोत्तर व्यक्तित्व और अदम्य कृतित्व को सूत्रात्मक रूप से प्रकट करते हुए लिखा है-

सहस्र आस्य उपदेस करि जगत उद्धरण जतन कियो
गोपुर ह्वै आरूढ उच्च स्वर मन्त्र उचार्यो।
सूते नर परे जागि बहत्तरि श्रवणनि धार्यो।।
तितनेई गुरुदेव पधति भई न्यारी न्यारी।
कुरुतारक शिष्य प्रथम भक्ति वपु मंगलकारी।।
कृपणपाल करुणा समुद्र रामानुज सम नहीं बियो।
सहस्र आस्य उपदेस करि जगत उद्धरण जतन कियो।।

यह अल्पज्ञात तथ्य है कि 'भक्तमाल' पर कालांतर में जितनी टीकाएं हुईं, उनमें माध्वगौडेश्वर वैष्णव संप्रदाय के सुख्यात संत-कवि श्रीप्रियादास की 1769 ईस्वी में लिखी 'भक्तिरसबोधिनी' टीका सर्वाधिक प्रसिद्ध तथा प्रामाणिक है। वे आचार्य रामानुज के बारे में लिखते हैं-

आस्य सो बदन नाम, सहस हजार मुख, शेष अवतार जानो वही, सुधि आई है
गुरु उपदेशि मन्त्र, कह्यो 'नीकै राख्यौ' अन्त्र, जपतहि श्यामजू ने मूरति दिखाई है।
करुणानिधान कही 'सब भागवत पावैं' चढ़ि दरवाजे सो पुकार्यो धुनि छाई है
सुनि शिष्य लियो यों बहत्तर हि सिद्ध भए नए भक्ति चोज, यह रीति लैकै गाई है।।

यह सांप्रदायिक इतिहास है कि रामानुज के प्राचार्य (गुरु के गुरु) उस समय भक्ति के सबसे बड़े आचार्य थे। उनका नाम यामुन मुनि है, जिनके पांच प्रमुख शिष्य थे। यामुनाचार्य आलवंदारस्तोत्र तथा सिद्धित्रय ग्रंथों के लेखक हैं। रामानुजाचार्य को उनके पांच शिष्यों से भिन्न-भिन्न तत्त्वों का ज्ञान मिला-

महापूर्णाचार्य - पञ्चसंस्कारयुता श्रीनारायण-अष्टाक्षरमन्त्र (ॐ नमो नारायणाय) की दीक्षा।
काञ्चीपूर्णाचार्य - परतत्त्व का निर्णय।
गोष्ठीपूर्णाचार्य - श्रीमन्नारायण अष्टाक्षर मंत्र के अर्थ का उपदेश।
शैलपूर्णाचार्य - श्रीमद्वाल्मीकिरामायण के दिव्यार्थ का तत्त्वज्ञान।
मालाधराचार्य - सहस्रगीति (दिव्यप्रबन्ध-तमिळ भाषा में निबद्ध) के गूढार्थ का प्रवचन।

तथ्य है कि आचार्य रामानुज से पहले उनके परमगुरु यामुनाचार्य ने शंकराचार्य के अद्वैत सिद्धांत का खंडन कर जीव की स्वतंत्र सत्ता का प्रतिपादन कर भक्ति मत को शास्त्रीय सिद्धांत के अनुसार स्थापित कर दिया था। परंतु वेद और उपनिषदों पर आधारित 'श्रीभाष्य' (ब्रह्मसूत्र भाष्य) लिखकर रामानुज ने ही भक्ति को मोक्ष के साधन के रूप में पहले-पहल स्थापित किया। भक्ति की वेदप्रतिपादकता और उसकी मोक्षकारणता को मजबूत शास्त्रीय तर्कों के साथ सिद्ध कर दिया। उनके भक्ति सिद्धांत ने मानव मात्र के लिए ईश्वर प्राप्ति के दरवाजे खोल दिए। उन्होंने भक्ति और शरणागति में जाति भेद, लिंग भेद और वर्ण भेद के लिए कोई स्थान नहीं छोड़ा। यह सब भी मात्र बौद्धिक तर्कों से नहीं, बल्कि सुदृढ शास्त्रीय आधार पर। उन्होंने यह घोषणा ही कर दी कि 'कोई व्यक्ति इसलिए नीच या ऊंच नहीं हो सकता कि उसका जन्म किस कुल या जाति में हुआ है! उसकी श्रेष्ठता तो ईश्वर के बताए मार्ग पर चलकर उसे पा लेने से ही सिद्ध होती है। जिसके लिए सदाचरण बेहद जरूरी है।'

आचार्य रामानुज की सबसे महत्वपूर्ण दार्शनिक स्थापना वह है, जिसमें एकमात्र अद्वैत तत्त्व स्वीकारते हुए भी जगत को मिथ्या नहीं कहकर उसकी उपेक्षा नहीं की गई। जगत सत्य है, क्योंकि इसका निर्माण उन पंच महाभूतों से मिलकर हुआ है, जो श्री-भू-नीलानायक श्रीमन्नारायण के शरीर हैं। यह बात 'बृहदारण्यकोपनिषद्' ने कही है-यस्य जलं शरीरम्। यस्य वायु: शरीरम्। यस्याकाश: शरीरम्। वे परमात्मा नारायण इस संसार को सृष्टि अवस्था में स्थूल तथा प्रलयावस्था में सूक्ष्म रूप से सदा धारण करते हैं। वे सगुण ब्रह्म 'शरीरी' हैं। फलत: यही बात सिद्ध होती है कि हमारा और उनका अंश-अंशी, शरीर-शरीरी, आधार-आधेय और जीव-ब्रह्म का संबंध है। यह संबंध सार्वकालिक होने के नाते सनातन है। इतना ही नहीं, हमारी आत्मा भी उन भगवान का शरीर है-यस्यात्मा शरीरम्। अत: वे परमात्मा हमारे धारक हैं। जीव और प्रकृति से सदा 'विशिष्ट' होने के नाते वह 'अद्वैत' तत्त्व 'विशिष्ट+अद्वैत=विशिष्टाद्वैत' तत्त्व कहलाता है। यह सिद्धांत रामानुज परंपरा का प्राण है। रामानुज संप्रदाय के अनुपम आचार्य श्रीवेदांतदेशिक 'न्यायसिद्धाञ्जनम्' के प्रारंभ में कहते हैं-एकमेव तत्त्वं तच्च ब्रह्मेति। अर्थात एक ही तत्त्व है, वह है ब्रह्म। वह ब्रह्म अपने शरीरभूत दो तत्त्वों से सदा विशिष्ट है। अत: वे सर्वेश्वरेश्वर एकमात्र 'विशिष्टाद्वैत' तत्त्व हैं।

आचार्य रामानुज ने वैदिक मान्यताओं के आधार पर जो विशिष्टाद्वैत दर्शन स्थापित किया, उसका सिद्धांत है कि भगवान लक्ष्मीनारायण संसार के माता-पिता हैं। उनका प्रेम और कृपा पाना उनकी हरेक संतान का धर्म है। उन्होंने केवल शास्त्रीय बातें लिखी ही नहीं, बल्कि स्वयं उनका प्रयोग भी किया। दलित भक्त मारीनेरनंबी की उपासना को अनुकरणीय बताकर उन्हें अपने संप्रदाय में आदर्श के रूप में स्थापित किया। मुस्लिम कन्या तुलुक्क नाच्चियार की लोकोत्तर भक्ति के कारण उनके मंदिर का निर्माण

करवाया, जहां आज भी उनकी पूजा होती है। यादवाद्रि के प्रसिद्ध संपत्कुमार मंदिर में दलितों का प्रवेश करवाया।

भक्ति परंपरा में उत्तर और दक्षिण का भेद नासमझी के कारण अभी तक बना हुआ है। इस नासमझी से अनेक झगड़े हुए है। ऐतिहासिक तथ्य यही है कि भक्ति की धारा दक्षिण भारत से शुरू हुई। उसका एक हजार साल का लिखित इतिहास है। तमिलनाडु उसके केंद्र में है। रामानुजाचार्य को उस धारा का संस्थापक आचार्य कहा जाता है। यह निर्विवाद है कि उसी भक्तिधारा को चौदहवीं सदी में स्वामी रामानंद उत्तर भारत में ले आए थे, जिन्होंने अपना केंद्र वाराणसी में पंचगंगा घाट के 'श्रीमठ' को बनाया। उन्होंने भक्ति की सर्वजन सुलभता को अपूर्व रीति से आगे बढ़ाया। कबीर और रैदास जैसे संत स्वामी रामानंद के भक्ति आंदोलन से इसी उदारता के कारण जुड़ सके। इस तरह रामानुजाचार्य का भक्ति सिद्धांत पूरे भारत में फैला। कबीर की प्रसिद्ध उक्ति रामानुजाचार्य के इस अदम्य कृतित्व की ओर ही इशारा करती है, जिसमें वे कहते हैं, 'भक्ति द्राविड़ ऊपजी...।' इस तरह दक्षिण में रामानुज का चलाया भक्ति मार्ग पूरे भारत में फैला। मध्यकाल में इस आंदोलन से ही पीपा, सेन, धन्ना, गोस्वामी तुलसीदास, मीरा और दादू तथा रामचरणदास जैसे अनेक भक्त-संत कवि पैदा हुए।

रामानुजाचार्य ने जहां से अपना भक्ति आंदोलन चलाया, वह तमिलनाडु का श्रीरंगम् है। यह नाम अपने आप में भक्ति उत्पन्न करता है। साफ है रामानुज की 'भक्ति' का तात्पर्य भगवान के गुणगान और नाम स्मरण से है। विद्वानों का मानना है कि रामानुज संप्रदाय के मठ-मंदिरों का फैलाव उत्तर और दक्षिण दोनों में था। आश्चर्य की बात है कि रामानुजाचार्य के उन विशाल मंदिरों में से अनेक लुप्त हो गए हैं। परंपरा दर्शाते इन मंदिरों में अब लोगों के घर हैं, दुकानें हैं। यदि इन्हें पुराने रूप में आबाद करना संभव हो सके तो ये सामाजिक समरसता के नए आंदोलन का रूप ले सकते हैं।

राजनीति के लोग हर व्यक्तित्व और उसके इतिहास का अपने हिसाब से उपयोग करते हैं। कुछ ही दिन हुए हैं जब मठ-मंदिरों के विरोध की राजनीति करने वाले एम. करुणानिधि ने तमिलनाडु विधानसभा चुनाव से ठीक पहले रामानुजाचार्य को महान दलित हितकारी संत बताया था। यह समाचार प्रमुखता से छपा। लेकिन इससे रामानुजाचार्य की स्वीकार्यता या अस्वीकार्यता पर कोई खास असर नहीं पड़ा। उन्हें परंपरागत रूप से मानने वाले उन्हें इस रूप में पहले से ही जानते हैं। यही कारण है कि आज पूरे देश में रामानुजाचार्य लोगों के कंठहार और उनके मठ-मंदिर श्रद्धा-वंदन के केंद्र बने हुए हैं। अच्छा भी रहे कि सरकार रामानुजाचार्य के सहस्राब्दी वर्ष के बहाने उनकी स्मृति को चिरंतन बनाने के लिए मजबूत काम करे, जिससे हमारी आने वाली पीढ़ियां भी उनके अमर कृतित्व की छाया में रह सके।

आचार्य रामानुज आज के साधु-संतों के लिए दर्पण भी हैं कि जो आज के दौर के परिवर्तन की दुहाई देकर संन्यास के बदले स्वरूप की पैरवी कर रहे हैं। यह सही है कि संसार के सभी क्षेत्रों में परिवर्तन हुए हैं। खान-पान बदला है। सामाजिक चिंतन बदला है। किंतु ऐसे परिवेश में भी संतत्व निखरा रह सकता है। संतत्व लाखों भारतीयों को प्रेरित करता है। संतों का काम बहुत व्यापक है। लोगों को संयम के लिए प्रेरित करना, अच्छाई की ओर प्रेरित करना, दुराचार को रोकने का प्रयास करना, समाज को ईश्वर की ओर ले जाना। हमारी परंपरा में संत तत्व का ही विशद वर्णन है। रामायण और योगदर्शन में लिखा है कि व्यक्ति पूर्णत: अहिंसक हो जाए, तो साक्षात विरोधी जीवों में भी अहिंसा की भावना आ जाती है। इसीलिए शाश्वत विरोध वाले बाघ और हिरण एक साथ संतों के आश्रमों में रहते थे, कोई किसी को परेशान नहीं करता था। प्रेम का वातावरण संत बनाते हैं। दुनिया की दूसरी व्यवस्थाओ में उतना दम नहीं है, जितना संतों की व्यवस्था में दम है। इसी व्यवस्था को आचार्य रामानुज ने ईश्वरीय भावना के अनुरूप ढालकर समाज के निर्माण में एक नए युग का सूत्रपात किया था।

भारत के इतिहास में सबसे अधिक प्रभावशाली संत रामानुजाचार्य हैं। इनका प्रभाव केवल बौद्धिक या आध्यात्मिक न होकर सामाजिक किंवा व्यक्तिगत भी है। समाज के हर चेतनावान प्राणी को दृष्टि देने का अभूतपूर्व जो कार्य आचार्य रामानुज ने किया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। मानवीय भावना को लेकर आध्यात्मिक एवं सामाजिक समरसता को प्रतिष्ठित करने के लिए रामानुजाचार्य ने ही भक्ति को वैदिक सिद्धांतों के बीच गौरवपूर्ण रूप से स्थापित किया। - डॉ. उमेश नेपाल, जगद्गुरु रामानंदाचार्य राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय, जयपुर

महाभारत के बाद भारतीय समाज में हुआ बंटवारा बहुविध है। न केवल सामाजिक बल्कि शैक्षणिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक स्तर पर कहीं भी समन्वय नहीं दिखता है। बुद्ध के अवतार के बाद अहिंसा सिद्धांत की प्रतिष्ठा हेतु जीवनोपयोगी हिंसा का भी विरोध होने लगा। मीमांसा व शांकर दर्शन ने मानवीय भावभूमि का तिरस्कार करके केवल कर्म तथा केवल ज्ञान के सिद्धांतों को प्रतिष्ठित किया। इसके बाद एक हजार साल पहले आचार्य रामानुज ने संपूर्ण भारतीय संस्कृतियों को जोडक़र वैदिक अद्वैत सिंद्धांत को यथावत रखते हुए जिस सर्वसमावेशी मार्ग का उपदेश किया है, वह नितांत अद्भुत तथा गंभीर है। - प्रो. वीरनारायण के. पांडुरंगी, दर्शन विभाग, कर्णाटक संस्कृत विश्वविद्यालय, बेंगलूरु

कोई भी मनुष्य प्राणिमात्र को ईश्वर का रूप मानकर उसकी सेवा से साधना के सर्वोच्च स्तर तक जा सकता है। इसी भाववृत्ति के साथ भारत की दार्शनिक परंपरा का नवनवोन्मेष करके आचार्य रामानुज ने मनुष्य सेवा से ईश्वर प्राप्ति का जनसुलभ रास्ता खोला है। इसकी जो शास्त्रानुकूल विधि रामानुजाचार्य ने प्रतिष्ठापित की, वह भारत सहित संपूर्ण विश्व के कल्याण का एकमात्र मार्ग है। जगद्गुरु

रामानुजाचार्य की यह सहस्राब्दी जीव मात्र में अभिव्यक्त होने वाले ईश्वर की सेवा और आराधना से लोगों की सद्गति का मार्ग प्रशस्त करेगी। - प्रो. जयकान्त सिंह शर्मा

श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली

रामानुज संप्रदाय की देश-विदेश में अनेक पीठें हैं। संप्रदाय की प्रमुख पीठें दक्षिण भारत में स्थित हैं। दक्षिण के अलावा अयोध्या, वृंदावन, वाराणसी, हरिद्वार समेत अनेक धार्मिक नगरियों में भी रामानुज संप्रदाय के अनेक मठ-मंदिर हैं। संप्रदाय की प्रमुख पीठें हैं-

1. वानमामलै, तिरुनेल्वेलि
2. श्रीरंगम्, तिरुच्चि
3. अहोबिलम्, तिरुपति
4. श्रीरंग मंदिर, वृंदावन
5. उत्तराहोबिल मठ, डीडवाना-पुष्कर
6. अशर्फी भवन, अयोध्या

सहायक आचार्य - दर्शन विभाग
जगद्गुरु रामानंदाचार्य राजस्थान संस्कृत विवि, जयपुर

संस्कृत साहित्य के विकास का ऐतिहासिक सन्दर्भ

डॉ. देवेन्द्र कुमार शर्मा

साहित्य समाज का दर्पण होता है। समाज जिस प्रकार का होगा वह उसी भाँति साहित्य में प्रतिबिम्बित रहता है। समाज के रूप-रंग, बुद्धि-हास, उत्थान-पतन, समृद्धि दुरवस्था के निश्चित ज्ञान का प्रधान साधन तत्कालीन साहित्य होता है। इसी प्रकार साहित्य संस्कृति का प्रधान वाहन होता है। संस्कृति की आत्मा साहित्य के भीतर से अपनी मधुर झाँकी सदा दिखलाया करती है। संस्कृति के उचित प्रसार तथा प्रचार का सर्वश्रेष्ठ साधन साहित्य ही है। संस्कृति का मूल स्तर यदि भौतिकवाद के ऊपर आश्रित रहता है तो वहाँ का साहित्य कदापि आध्यात्मिक नहीं हो सकता और यदि संस्कृति के भीतर आध्यात्मिकता की भव्य भावनाएँ हिलोरें मारती रहती है, तो उस देश तथा जाति का साहित्य भी आध्यात्मिकता से अनुप्राणित हुए बिना नही रह सकता। साहित्य सामाजिक भावना तथा सामाजिक विचार की विशुद्ध अभिव्यक्ति होने के कारण यदि समाज का मुकुर है, तो सांस्कृतिक आचार तथा विचार के विपुल प्रचारक तथा प्रसारक होने के हेतु, संस्कृति के सन्देश को जनता के हृदय तक पहुँचाने के कारण, संस्कृति का वाहन होता है।

संस्कृत साहित्य का इतिहास पूर्वोक्त सिद्वान्त का पूर्ण समर्थक है एवं भारतीय समाज के भव्य विचारों का रूचिर दर्पण है। भारतवर्ष में सांसारिक जीवन के उपकरणों का सौलभ्य होने के कारण भारतीय समाज जीवन संग्राम के विकट संघर्ष से अपने को पृथक रखकर आनन्द की अनुभूति को. वास्तव शाश्वत आनन्द की उपलब्धि को, अपना लक्ष्य मानता है। इसलिए संस्कृत - काव्य जीवन की विषम परिस्थितियों के भीतर से आनन्द की खोज में सदा संलग्न रहा है। आनन्द सच्चिदानन्द भगवान् का विशुद्ध पूर्ण रूप है। इसीलिए संस्कृत-काव्य की आत्मा रस है। रस का उन्मीलन श्रोता तथा पाठक के हृदय में आनन्द का उन्मेष-ही काव्य का अन्तिम लक्ष्य है। संस्कत आलोचनाशास्त्र में औचित्य, रीति, गुण तथा अलंकार आदि काव्यांगों का विवेचन होने पर भी रसविवेचन ही मुख्यतया प्रतिपाद्य विषय है। भारतीय समाज का मेरुदण्ड है गृहस्थाश्रम, अन्य आश्रमों की स्थिति गृहस्थाश्रम के ऊपर निर्भर है। फलतः भारतवर्ष का प्रवृत्तिमूलक समाज गृहस्थ धर्म को पूर्ण महत्व प्रदान करता है और इसीलिए संस्कृत साहित्य में गार्हस्थ्य धर्म का चित्रण सांगोपांग, पूर्ण तथा हृदयावर्जक रूप से उपलब्ध होता है। संस्कृत साहित्य का आद्य महाकाव्य वाल्मीकीय रामायण गार्हस्थ्य धर्म की धुरी पर घूमता है। दशरथ का आदर्श पितृत्व, कौशल्या का आदर्श मातृत्व, सीता का आदर्श सतीत्व, भरत का आदर्श भ्रातृत्य, सुग्रीव का आदर्श बन्धुत्व और सबसे अधिक रामचन्द्र का आदर्श पुत्रत्व भारतीय गार्हस्थ्य धर्म के ही विभिन्न अंगों के आराधनीय आदर्शो की मधुमय मनोरम अभिव्यक्तियाँ हैं।

'साहित्य' शब्द और अर्थ के मञ्जुल का सूचक है। इसकी व्युत्पत्ति है 'सहितयोः भावः साहित्यम्' अर्थात सहित शब्द तथा अर्थ का भाव। इस मौलिक अर्थ में इस शब्द का प्रयोग हमारे काव्य-ग्रन्थों तथा अलङ्कार-ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर दीख पड़ता है। साहित्य-संगीत-कलाविहिनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः[1] महाकवि भर्तृहरि ने संगीत तथा साहित्य से विहीन पुरूष को जब पशु कहा न च काव्ये शास्त्रदिवत् अर्थ-प्रतीत्यर्थ शब्दमात्रं प्रयुज्यतेः सहितयोः शब्दार्थयोः तत्र प्रयोगात्। तुल्यकक्षत्वेन अन्यूनानतिरिक्तत्वम्[2] तब उनका अभिप्राय 'साहित्य' के उन कोमल काव्यों से है जिसमें शब्द और अर्थ का अनुरूप सन्निवेश है। शास्त्र और साहित्य का अन्तर यही है कि शास्त्र में अर्थप्रतीति के लिए ही शब्द का प्रयोग किया जाता है, परन्तु काव्य में शब्द और अर्थ दोनों एक ही कोटि के होते है, न तो कोई घटकर रहता है, न बढ़कर। इसी अर्थ को दृष्टि में रखकर राजशेखर ने साहित्य-विद्या को 'पञ्चमी विद्या कहा है, जो मुख्य चार विद्याओं- पुराण, न्याय (दर्शन), मीमांसा, धर्मशास्त्र का सारभूत है। पंचमी साहित्यविधेति यायावरीयः। सा हि चतसृणा विद्यानामपि निष्यन्दः।[3] बिल्हण ने अपने विक्रमाङ्कदेवचरित में काव्यरूपी अमृत को साहित्य समुद्र के मन्थन से उत्पन्न होने वाला बतलाया है।[4] इस प्रकार 'साहित्य' शब्द का प्रयोग संकुचित अर्थ में काव्य, नाटक आदि के लिये होता है। परन्तु उधर 'साहित्य' शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में भी होने लगा है। 'साहित्य' से अभिप्राय उन ग्रन्थों से है, जो किसी भाषा-विशेष में निबद्ध किये गये हों। इस अर्थ में वाङ्मय शब्द का प्रयोग उचित प्रतीत होता है। अंग्रेजी भाषा में प्रयुक्त 'लिटरेचर' शब्द के लिए ही साहित्य का प्रयोग इधर होने लगा है। इस ग्रन्थ में साहित्य का प्रयोग संकुचित अर्थ में ही किया गया है और अधिक लोकप्रिय होने के कारण काव्य के नाना रूपों का वर्णन कुछ विस्तार के साथ किया गया है।

लोगों में एक धारणा सी फैली हुई है कि भारतवर्ष के साहित्य में ऐतिहासिक ग्रन्थों का अस्तित्व नहीं है। कुछ लोगों का तो यहाँ तक कहना है कि भारतीय लोग इतिहास से परिचित ही नहीं थे, परंतु ये धारणाएँ नितांत निराधार है। भारतीय साहित्य में पुराणों के साथ इतिहास वेद के समकक्ष माना जाता है। ऋक्-संहिता में ही इतिहास से युक्त मंत्र है। 'त्रितं कूपऽवहितमेतत् सूक्तं प्रतिबभौ। तत्र ब्रह्मेतिहासमिश्रमृडमिश्रं गाथमिश्रं भवति'[5] छान्दोग्य उपनिषद् में सनत्कुमार से ब्रह्मविद्या सीखने के समय अपनी अधीत विद्याओं में नारद मुनि ने 'इतिहास-पुराण' को पंचम वेद बतलाया है। 'ऋग्वेद भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमथर्वणम् इतिहास-पुराणं पंचमं वेदानां वेदम्।'[6] यास्क ने निरुक्त में ऋचाओं के विशदीकरण के लिए ब्राह्मण ग्रन्थ तथा प्राचीन आचार्यों की कथाओं को 'इतिहासमाचक्षते' ऐसा कहकर उद्धृत किया है। वेदार्थ के निरूपण करने वाले विभिन्न सम्प्रदायों में ऐतिहासिकों का भी एक अलग सम्प्रदाय था; इसका स्पष्ट परिचय निरुक्त से चलता है- 'इति ऐतिहासिकाः'। इतना ही नहीं, वेद के यथार्थ अर्थ को समझने के लिए इतिहास-पुराण का अध्ययन आवश्यक बतलाया गया है। व्यास का स्पष्ट कथन है कि

वेद का उपबृंहण इतिहास और पुराण के द्वारा होना चाहिए, क्योंकि इतिहास-पुराण से अनभिज्ञ लोगों से वेद सदा भयभीत रहता है। राजशखर ने उपवेदों में इतिहास-वेद को अन्यतम माना है। कौटिल्य की 'इतिहास' कल्पना बड़ी विशाल, उदात्त एवं विस्तृत है। वे सबसे पहले 'इतिहास-वेद' की गणना अथर्ववेद के साथ करते हैं और इसके अंतर्गत पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र तथा अर्थशास्त्र का अंतर्भाव मानते हैं। अथर्ववेद इतिहासवेदौ च वेदाः। पश्चिमं (अहर्भाग) इतिहासश्रवणे पुराणमितिवृत्तमाख्यायिकोदाहरणं धर्मशास्त्रमर्थशास्त्रं चेतीतिहासः[7] इतने पुष्ट प्रमाणों के रहते हुए भारतीयों को इतिहास की कल्पना से शून्य मानना नितांत अनुचित है। हमारे प्राचीन साहित्य में इतिहास-विषयक ग्रंथ थे, जो अब धीरे-धीरे उपलब्ध हो रहे हैं। परंतु पाश्चात्य इतिहास-कल्पना और हमारी इतिहास-कल्पना में एक अंतर है जिसे समझ लेना आवश्यक है। पाश्चात्य इतिहास घटना-प्रधान है, अर्थात् उसमें युद्ध आदि की घटनाओं का विवरण प्रस्तुत करना ही मुख्य उद्देश्य रहता है, परंतु भारतीय कल्पना के अनुसार घटना वैचित्र्य विशेष महत्व नहीं रखता। हमारे जीवन-सुधार से उनका जहाँ तक लगाव है वहीं तक हम उन्हें उपादेय समझते आये हैं।

भारतीय साहित्य में 'इतिहास' शब्द से प्रधानतया महाभारत का ही ग्रहण होता है और यह ग्रहण करना उचित है। महाभारत कौरवों और पाण्डवों के युगान्तरकारी युद्ध का ही सच्चा इतिहास नहीं है, प्रत्युत उसे हमारी संस्कृति, समाज, राजनीति तथा धर्म के प्रतिपादक इतिहास होने का भी गौरव प्राप्त है। यहाँ इतिहास के अंतर्गत हम वाल्मीकीय रामायण को भी रखना उचित समझते हैं। प्रचलित परिपाटी के अनुसार इसे 'आदि महाकाव्य' मानना ही न्यायसंगत होगा, परंतु धार्मिक दृष्टि से उसका गौरव महाभारत से घटकर नहीं है। रामायण के द्वारा चित्रित भारतीय सभ्यता महाभारत से भी प्राचीन है। रामायण मर्यादा पुरुषोत्तम महाराज रामचन्द्र के जीवन चरित्र को चित्रित करने वाला अनुपम गन्थ है। रामराज्य की कल्पना जी भारतीय राजनीति में आदर्श मानी जाती है। महर्षि वाल्मीकि की देन है। यह जानना आवश्यक है कि रामायण और महाभारत की घटनाएँ ऐतिहासिक हैं। ये दोनों महत्वपूर्ण युद्ध इसी भारतवर्ष की सीमा के भीतर लडे गये थे। उन्हें अंतर्जगत के धर्म और अधर्म के द्वंद्व-युद्ध का प्रतीक मात्र मान लेना नितांत अनुचित है। वैदिक साहित्य में हम जिस धर्म का सिद्धांतरूप में दर्शन करते है उसी का व्यावहारिक रूप हमें इन दोनों ग्रंथों में उपलब्ध होता है। सच्ची बात तो यह है कि रामायण और महाभारत भारतीय संस्कृति के प्रकाशस्तभ हैं। जिनके प्रकाश से हम अपने वैदिक धर्म के अनेक अंधकार से आवृत्त तथ्यों का साक्षात् करने में समर्थ होते हैं। ये दोनों इतिहास ग्रंथ है, परंतु उस अर्थ में ये इतिहास ग्रंथ नहीं हैं जिस अर्थ में समझा जाता है। इतिहास शब्द यहाँ अत्यत व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इतिहास का शब्दार्थ ही है - इति+ह+आस इस तरह से निश्चय से था। इस प्रकार से हमारे प्राचीन धर्म तथा हमारी सभ्यता में जो कुछ था, उसका साङ्गोपाङ्ग वर्णन इन दोनों ग्रंथों में उपलब्ध होता है। इतिहास

के द्वारा वेद के अर्थ का उपबृंहण होता है, इसका भी यही रहस्य है। वेद का अर्थ तो स्वयं सूक्ष्म ठहरा, जिसे सूक्ष्म मतिवाले लोग ही भली-भांति समझ सकते हैं, परंतु इन इतिहास तथा पुराण ग्रथों में हम उसी सूक्ष्म अर्थ का प्रतिपादन जनसाधारण के लिए बोधगम्य, सरस तथा सरल भाषा में पाते हैं। इतिहास और पुराणों में जो सिद्धांत प्रतिपादित हैं वे सिद्धांत वेद के ही है, इसमें तनिक भी संदेह नहीं।[8] पस्तु हमारे समझने योग्य भाषा में लिखे जाने के कारण ये हमारे हृदय को अधिक स्पर्श करते हैं। इस तरह वैदिक सिद्धांतों के बहुल प्रचारक होने के कारण ही धार्मिक दृष्टि से इन ग्रंथों का महत्व है। व्यास ने इतिहास की महत्ता बतलाते हुए इसी बात की ओर संकेत किया है :-

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति।।

इतिहास के जिस व्यापक अर्थ का हमने अभी निर्देश किया है उसका समर्थन राजशेखर की काव्यमीमांसा से भी होता है। राजशेखर का कहना है कि इतिहास दो प्रकार का है-(1) परिकिया, (2) पुराकल्प। 'परिकिया' से अभिप्राय उस इतिहास से है जिसका नायक एक ही व्यक्ति होता है, जैसे रामायण। 'पुराकल्प' अनेक नायक वाले इतिहास-ग्रंथ का सूचक है, जैसे महाभारत। राजशेखर के अनुसार भी ये दोनों ग्रंथ-रत्न 'इतिहास' के ही अंतर्गत ठहरते हैं। राजशेखर का कथन 'काव्यमीमांसा' में इस प्रकार है-

परिकिया पुराकल्पः इतिहास-गतिर्विधा।
स्यादेक-नायका पूर्वा द्वितीया बहुनायका।।

संदर्भ ग्रंथसूची -

1. संस्कृत साहित्य का इतिहास - डॉ. रामसागर त्रिपाठी
2. संस्कृत साहित्य का नवीन इतिहास - डॉ. विनय कुमार राव
3. संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास - डॉ. रमाकान्त त्रिपाठी
4. संस्कृत साहित्य का इतिहास - डॉ. उमाशंकर शर्मा, 'ऋषि'
5. ऋग्वेद संहिता - डॉ. उमाशंकर शर्मा
6. काव्य मीमांसा - राजशेखर
7. अर्थशास्त्र - श्री वाचस्पति गैरोला
8. पुराण तत्व मीमांसा - डॉ. कृष्णमणि त्रिपाठी
8. वेद के तथ्यों के पौराणिक उपबृहण के लिए द्रष्टव्य बलदेव उपाध्याय का पुराणविमर्श, पृष्ठ 250-264 (चौखम्भा, वाराणसी, 1965)

श्री रामजीलाल स्मृति शिक्षा महाविद्यालय,
पवालिया सागानेर, जयपुर (राज)

प्रकृति चिंतन...

पं. नवीन जोशी

बेबस प्रकृति हरपल मानव को धिक्कारती है,
बचा लो मुझे हरदम महज यहीं पुकारती है।
यूं तो मेरे शहर में नेता रोज पौधें लगाते हैं,
पर्यावरण हितैषी होने का ढोंग भी रचाते हैं।
धूप के साए से कच्ची कलियां डर जाती हैं,
प्यास से व्याकुल हो पत्तियां झड़ जाती हैं।
आखिर कैसे भूल गए प्रकृति ही निस्वार्थी है।

बेबस प्रकृति हरपल मानव को धिक्कारती है,
बचा लो मुझे हरदम महज यहीं पुकारती है।
मेरे आंगन में पौधा अपनी कहानी कहता था,
उस पर जंगली कबूतर सपरिवार रहता था।
पत्थर मार किसी ने आशियाने को चूर किया,
जिंदगी कड़वी बनी मरने पर मजबूर कर दिया।
प्रकृति दूसरी मां है जो जीवन को सँवारती है।

बेबस प्रकृति हरपल मानव को धिक्कारती है,
बचा लो मुझे हरदम महज यहीं पुकारती है।
पर्यावरण हितैषी भी अब झण्डे देने लगे हैं,
पंछी खिड़की-रोशनदानों में अण्डे देने लगे हैं।
राक्षस धुआं पृथ्वी को खाकर भाग जाएगा,
'नवीन'आवाज देता रह,संसार जाग जाएगा।
इसके बिना न किसी की अजान न आरती है।

बेबस प्रकृति हरपल मानव को धिक्कारती है.
बचा लो मुझे हरदम महज यहीं पुकारती है।

शोध छात्र, पद्मश्री नारायणदास रामानन्ददर्शन अध्ययन एवं शोध संस्थान, जयपुर

प्राच्नव्ययोर्मते समासलक्षणम्

संदीपकुमार मीणा

समसनं समासः। समुपसर्गपूर्वकासधातो हलश्चेति सुत्रेणाधिकरणे घञ् प्रत्यये कृते समासशब्दस्य सिद्धिर्भवति। समसनमत्र भावे घञ् समसनं नाम संक्षेपीकरणम्। संक्षेपीकरणञ्च अनेकेषां पदानामेकीभवनम्। तच्च स्वाव्यवहितोत्तरविभक्तिमपाकृत्य परस्परं सम्मेलनरूपम्। एवञ्च यत्रानेकानि पदानि स्वप्रकृतिकविभक्तिमपाकृत्य परस्परं सम्मिलितानि विशिष्टार्थबोधकानि स्युस्तत्र समास इति व्यवहारः। परन्तु समासस्यैवंविधे लक्षणे क्रियमाणे सुबन्तस्थले दोषाभावेऽपि पचतभृज्जता ''खादतमोदता'' तिङन्तपदानां समासे उक्तलक्षणस्यानागमनादव्याप्तिः स्यादिति समासाधिकारपठितसंज्ञात्वं समासत्वमिति निर्दुष्टं तल्लक्षणं वेदितव्यम्। अत्र केचित्–

समासत्वं च– व्याकरणशास्त्रप्रणेतृपाणिन्यादि मुनिकृतसंकेतसम्बोधने समासपदत्वम्। यस्मिन् समुदाये पदद्वयं परस्परं समस्यते च समुदायः समासः। यद्वा समासत्वम् अखण्डोपाधिविशेषः। एवञ्चाखण्डधर्मतत्वं, सङ्केतसम्बन्धेन समासपदत्वं वा समासत्वम् इत्याहुः। प्राचीनमतानुसारेण कृत्तद्धितैकशेषसनाद्यन्तधातुरूपा पञ्च वृतयो भवन्ति नव्यास्तु एकशेषवृतित्वं नेच्छन्ति। परार्थान्वितस्वार्थोपस्थापकत्वरूपवृत्तित्वस्य तत्राभावात्। अतएव समर्थः पदविधिः इति सूत्रस्याधिकारत्वपक्षे एकाशेषसंग्रहः उक्तो भाष्ये। तत्र सामर्थ्यं द्विविधम्। व्यपेक्षालक्षणम् एकार्थीभावलक्षणं च। तयोर्मध्ये स्वार्थपर्यवसायिनां पदानामकांक्षादिवशाद्यः परस्परान्वयस्तदव्यपेक्षाविधं सामर्थ्यम्। विशिष्टा अपेक्षा व्यपेक्षेति व्युत्पत्तेः। सम्बान्धार्थः समर्थ इति व्युत्पत्तेश्च। इदं च राज्ञः पुरुष इत्यादिवाक्य एव भवति। तत्र चैकैकस्य शब्दस्य यः संनिहितो योग्यश्च तेनान्वयो भवति। तथा राज्ञो पुरुषश्चेति देवदत्तस्य च पुरुषः इति ऋद्धस्य राज्ञः पुरुष इति च। एकार्थी भावालक्षणं सामर्थ्य तु प्रक्रियादशायां प्रत्येकमर्थवत्त्वेन पृथग्गृहीतानां समुदाशक्त्या विशिष्टैकार्थप्रतिपादकत्वरूपम्। संगतार्थः समर्थः संसृष्टार्थः समर्थ इति व्युत्पत्तेः। संगतिः संसर्गश्चैकीभाव एव यथा संगतं घृतं तप्तोति, एकीभूतमिति गम्यते। यथा वा संसृष्टोऽग्निरिति, एकीभूत इति गम्यते इति भाष्याच्च। इदं च समर्थं इति व्युत्पत्तेः। इदं च सामर्थ्य राज्ञपुरुष इत्यादिवृत्तावेव। अत एव ऋद्धस्य राजपुरुष इत्येवं पुरुषविशेषणे राज्ञे ऋद्धत्वविशेषणं नान्वेति। विशिष्टस्यैकवाक्यतया राज्ञः पदार्थैकदेशत्वादित्याद्यर्थकमुक्तम्। देवदत्तस्य गुरुकुलमित्यत्र तु उपसर्जनस्य नित्यसापेक्षत्वात् समासः। यदा गुरुवद् देवदत्तोऽपि विशेष्ये प्रधाने कुल एवान्वेति, तत्र गुरुवा कुलस्य उत्पद्यसम्बन्धोनान्वयः। देवदत्तेन तु कुलस्य तदीयगुरुत्वोपात्ततयाऽन्वयो गुरुगर्भः। उक्तं च हरिणा–

सम्बन्धिशब्दसापेक्षो नित्यं सर्वैः समस्यते। वाक्यवत् सा व्यपेक्षा हि वृत्तावपि न हीयते। इति समुदायेन सम्बन्धो येषां गुरुकुलादिना संस्पृश्यावयवास्ते तु युज्यते तद्धिता सह।। इति च।

शोधार्थी, ज.रा.रा.सं.विश्वविद्यालय, जयपुरम्

वैदिक मन्त्रों से रोगों का उपचार

विनोद

नेत्र रोग

मन्त्र – ओम् क्रां क्रीं कू मैं क्रों ओम् चक्षुः चक्षुस्तेजाधिरो भव। मां पाहि पाहि। त्वरितं चक्षुरोगान् शमय शमय मम जातरुपं तेजो दर्शय दर्शम्। यथाऽहं अन्धो न स्यां तथा कल्पय कल्पय। कल्याणं कुरु कुरु। यानि मम पूवर्जजन्मोपार्जितानि चक्षुः प्रतिरोधदुस्कृतानि सर्वाणि निर्मूलय निर्मूलय ओं नम श्चक्षुदात्रे दिव्याय भास्कराय ओं नमः करुणाकरायामृताय ओं नमः सूर्याय स्वाहा।

त्वचा रोग

मन्त्र – ओम् ह्रीं हंसः शुचिषदन्तरिद्वा ओम् उदुत्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः दृशे विश्वाय सूर्यम्। देवाध्वर्यु आगतं रथेन सूर्यत्वचा। मध्वा यसँ समञ्जाथे। ओं नमः सूर्याय ह्रीम् ओम्।

बवासीर (बादी)

मन्त्र – ओम् क्लं क्लां क्लीं क्लू ओम् शं नोदेवीरभीष्टये आपो भवन्तु पीतये शं योरभिस्रवन्तु नः क्लं क्लां क्लीं क्लं क्लोम् ओम्।

सिरदर्द, कानदर्द

मन्त्र – ओम् हम्मे प्राणाय मे वर्थोदावर्चसवे पवस्य व्याताय मे वर्षोद वर्चसे पवस्वोदानाय मे वक़दा वर्चस पवस्व वाचे मे वक़दा वर्चसे पवस्व क्रतूदक्षभ्यां मे वक़दा वर्चसे पवस्व श्रोताय मे वक़दा वर्चसे पवस्य चक्षुर्या मे वर्षोंदसो वर्चसे पवेथाम्। ओम्

पीठ दर्द, कमर दर्द

मन्त्र – ओम् ह्रीं श्रीं क्लीं ओम् प्राणेन विश्वतो वीर्य्यम् देवाः सूर्यं समैरयन् व्यहं सर्वेण पाप्मना विक्ष्ययेण समायुषा ह्रीं श्रीं क्लीं ओम् स्वाहा।

पेट दर्द

मन्त्र – ओम् द्रां द्री दूं द्रों ओम् इमं देव असपत्नं सुवध्वं महते क्षत्राय महते ज्येष्ठाय महते जानराज्यायोदस्येन्द्रियाय। इमम्मुषाण पुत्र मुषाण पुत्रमुमुष्यै एस वोऽयी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा द्रां द्रीं दूं द्रौं ओम्।

मधुमेह

मन्त्र – ओम् हुं ग्लौम् ओम् अन्नात्परिश्रुतो रसः ब्रह्मणा व्यपिवत् क्षयम्पयः सोमं प्रजापति ऋतेन सत्यमिन्द्रियम्। द्विपानव शक्रमन्धसः इन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु हुं ग्लौम् ओम् स्वाहा।

दांत दर्द

मन्त्र – ओम् शमु अश्विना नमुचे सुतं सोमं शुक्र परिस्तुता। सरस्वती तयाभर बर्हिषेन्द्राय पातवे शमु ओम्।

पैर दर्द

मन्त्र – ओम् रक्षसां भगोऽसि निरस्तं रक्षा इदमहं रक्षोऽभितिष्ठामीदमहं रक्षो बबाधेऽदसहं रक्षोऽधमतयो नयामि घृतेन द्यावापृथिवी प्रोणुवाथां वायो वै स्तोका नमग्नि राज्याय वेतु स्वाहा स्वाहा कृते उर्ध्वनभस माम्मतं गच्छतम् ओम्।

शोध छात्र,
पद्मश्री नारायणदास रामानन्ददर्शन अध्ययन एवं शोध संस्थान,
जयपुर

अन्ताराष्ट्रिय वैदिक संस्कृति व्याख्यानमाला एवं दिनांक 26 जनवरी, 2020 को आयोजित कार्यक्रम

प्रकाशक : **विश्वगुरुदीप आश्रम शोध संस्थान,** कीर्ति नगर, श्याम नगर, सोढाला, जयपुर
Mail Id. : vishwagurudeepashram@gmail.com • jaipur@yogaindailylife.org
Website : https://www.vgda.in • Youtube : www.youtube.com/c/vishwagurdeepashram

Narayan